Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 1 | ISSN : 2582-0095

विक्रमोर्वशीय में रस-तत्त्व

डॉ० किरण लता
फ्लैट न० – 27, जे० एफ – 2,
ब्लॉक न० – 5, रोड न० – 12,
राजेन्द्र नगर, पटना,
बिहार (भारत)

सारांश – इस शोधपत्र में महाकवि कालिदास रचित विक्रमोर्वशीय में प्रयुक्त काव्योपादान का विवेचन है। इसमें रसोद्भावन को प्रमुखता दी गई है क्योंकि रूपक के लिए आनन्द की सृष्टि में सबसे बढ़कर उसी का महत्त्व होता है। इस नाटक में कालिदास **शृं**गार को अंगी बनाते हुए इसके तीनों भेदों का ही नहीं अपितु करूण–विप्रलम्भ का भी प्रयोग किया है। विक्रमोर्वशीय का समापन अद्भुत रस से करके कालिदास ने इसे चमत्कारी बनाया है।

प्रमुख शब्द – रूपक, रसात्मक, विक्रमोर्वशीय, विभाव, करूण–विप्रलम्भ, उद्भावन, अद्भुत–रस, विदूषक, हास्यरस, **शृं**गाररस, अभिनवगुप्त इत्यादि।

रूपक एक प्रबन्धात्मक काव्य है जिसमें कवि किसी एक रस को प्रधान रखता है, अन्य रस उसके अंग होते हैं। रसात्मक तो रूपक को आद्यन्त रहना ही है।[1] नाटक के प्रसंग में भी विश्वनाथ ने कहा है कि इसमें एक ही अंगी (प्रधान) रस होना चाहिये वह चाहे शृंगार हो या वीर हो। दूसरे रस नाटक के अंग के रूप में होते हैं किन्तु निर्वहण–सन्धि में अद्भुत–रस का प्रयोग नाटक को श्लाघ्य बना देता है

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः।।

विक्रमोर्वशीय शृंगार–रस प्रधान रूपक है। वीर आदि कुछ रस इसमें गौण रूप से आये हैं। निर्वहण–सन्धि के रूप में जो इसका पञ्चम अंक है उसमें अद्भुत–रस का प्रयोग कालिदास ने किया है जिससे कुछ पात्रों को अभूतपूर्व तथा अप्रत्याशित घटनाक्रम के कारण विस्मय होता है। रसों की उद्भावना के प्रमुख स्थलों को हम यहाँ देखें।

शृंगार रस की प्रधानता - इस रस के आलम्बन विभाव उत्तम प्रकृति के प्रेमी जन होते हैं। चन्द्रिका (चाँदनी), एकान्त स्थान, भ्रमर का गुंजन आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं; भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष आदि इसके अनुभाव हैं। चार-पाँच को छोड़कर सभी व्यभिचारी-भाव इसके पोषक होते हैं। शृंगार-रस का स्थायी-भाव 'रति' है। नायक-नायिका के बीच परस्पर आस्थाबन्ध ही रति है। इसकी उत्तरोत्तर छः विकासावस्थाएँ हैं प्रेम, मान, प्रणय, स्नेह, राग तथा अनुराग। 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ में शारदातनय ने रति और उसके विकास का इस प्रकार निरूपण किया है -

आलापलीलोपचारचेष्टादृष्टिविलोकनः

अन्योन्यभोग्यधीरेव रहः स्त्रीपुंसयो रतिः।।

इयमङ्कुरिता प्रेम्णा मानात् पल्लविता पुनः।

सकोरका प्रणयतः स्नेहात्कुसुमिता भवेत्

रागात् फलवती चेयमनुरागेण भुज्यते।।[2]

शृंगार-रस के दो भेद माने जाते हैं - विप्रलम्भ तथा सम्भोग। विप्रलम्भ शृंगार उसे कहते हैं जहाँ नायक-नायिका का परस्परानुराग तो प्रगाढ़ होता है किन्तु उनका परस्पर मिलन नहीं होता। इसके भी चार भेद हैं - पूर्वरागविप्रलम्भ (जैसे नैषधीयचरित में नल और दमयन्ती एक दूसरे को बिना देखे ही विप्रलम्भ का अनुभव करते हैं),मान-विप्रलम्भ (जहाँ नायिका के मान के कारण वियोग की अल्पकालिक स्थिति हो), प्रवास-विप्रलम्भ (जहाँ नायक परदेश चला गया हो तथा नायक या नायिका की विरह वेदना प्रकट हो रही है) तथा करुण विप्रलम्भ (जहाँ नायक-नायिका का वियोग करुणात्मक कोटि में हो-इसे सभी आचार्य नहीं मानते क्योंकि करुण का स्थायी भाव शोक होने से 'रति' का प्रकाशन नहीं होता)। हम देखेंगे कि विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में कालिदास ने करुण-विप्रलम्भ का बहुत सफल प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त प्रवास-विप्रलम्भ का भी रूप उनके नाटक में विद्यमान है।

सम्भोग शृंगार विलासियों के परस्पर दर्शन, स्पर्श आदि की अनुभूति प्रदान करता है। इसके असंख्य प्रकार हो सकते हैं। विक्रमोर्वशीय में इस भेद का भी संयमित प्रयोग कालिदास ने किया है। इस नाटक में उर्वशी और पुरूरवा एक दूसरे को देखकर अनुरक्त हो जाते हैं। उर्वशी अपनी शालीनता के कारण राजा से सम्बद्ध अपने अभिलाष को मन-ही-मन रखती है। कभी-कभी वह अपनी सखी चित्रलेखा से मनोभावों को व्यक्त करती है। राजा अपने स्वगत-कथन में उर्वशी के स्पर्श से होनेवाले अपने शरीर के रोमाञ्च को व्यक्त करते हैं। रोमाञ्च को अनुभाव अथवा सात्त्विक-भाव कहा गया है।[3]

पुरूरवा उर्वशी को अपने रथ पर चढ़ाकर विषम भूमि वाले मार्ग से सखियों के पास ले जाते हैं। उस समय रथ के हिचकोले के कारण उर्वशी बार-बार राजा को पकड़ लेती है। इससे राजा को रोमाञ्च होता है। वे कहते हैं कि मेरे शरीर में प्रेम के अंकुर मानो फूट रहे हैं।[4] संयोग शृंगार का यह सात्त्विक भाव महत्त्वपूर्ण है। उर्वशी अपने उत्कट अभिलाष को स्वयं राजा के पास आकर प्रेम -पत्र के द्वारा प्रकट करती है और अपनी भावनाओं को उड़ेल देती है। उस समय राजा विदूषक के साथ उर्वशी-विषयक चर्चा कर रहे थे। वहाँ प्रवास-विप्रलम्भ का सुन्दर प्रयोग है। नायक-नायिका भिन्न देशों में थे। अत: राजा का उर्वशी-विषयक चिन्तन प्रवास-विप्रलम्भ के अन्तर्गत रखा जा सकता है (प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात्)। विश्वनाथ ने विक्रमोर्वशीय में नायक-नायिका के बीच वियोग शृंगार को सम्भ्रम से उत्पन्न प्रवास विप्रलम्भ कहा है उनका कथन है कि सम्भ्रम का अर्थ दिव्य, मानुष, निर्घात, उत्पात आदि है। इससे उत्पादित प्रवास सम्भ्रमजन्य होता है। ऐसा प्रवास प्रस्तुत प्रसंग में नहीं है किन्तु चतुर्थ अंक में जो अभिशप्त उर्वशी का शरीर परिवर्तन हो गया है और उसपर पुरूरवा का विलाप दिखाया गया है, सम्भवत: उसे ही विश्वनाथ निर्दिष्ट कर रहे हों।

विप्रलम्भ शृंगार का एक सामान्य उदाहरण राजा पुरूरवा की इस उक्ति में मिलता है कि कामेदव अहर्निश अपने बाणों से मेरे हृदय को बेधता रहता है, ऐसी स्थिति में मुझे नींद कहाँ कि स्वप्न में उर्वशी से मिल सकूँ? पुन: मैं अपनी प्रिया का पूरा चित्र भी नहीं बना पाऊँगा क्योंकि बीच में ही मेरी आँखें आँसुओं से भर जायेगी -

हृदयमिषुभि: कामस्यान्त: सशल्यमिदं सदा

कथमुपलभे निद्रा स्वप्ने समागमकारिणीम्।

न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां

मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति।। [5]

यहाँ स्थिति यह थी कि विदूषक ने राजा को उर्वशी के विरह में मनोविनोद के लिये स्वप्न में समागम करनेवाली निद्रा के सेवन का सुझाव दिया था अथवा उर्वशी का चित्र बनाकर उसे एकटक देखने के लिये कहा था। इसी का उत्तर उपर्युक्त विरहपूर्ण पद्य में राजा ने प्रस्तुत किया।

उर्वशी का प्रेम-पत्र (मदनलेख) भी विप्रलम्भ शृंगार का अभिव्यंजन करता है जिसमें कहा गया है कि सुकुमार पारिजात पुष्पों की शय्या पर भी लेटते समय उर्वशी को नन्दनवन का शीतल पवन भी जलाता है। ठीक ऐसी ही स्थिति का वर्णन राजा पुरूरवा भी तृतीय अंक में करते हैं। उनके कामरोग को न प्रत्यग्र पुष्पों की शय्या दूर कर

सकती है, न चन्द्रमा की किरणें हटा सकती हैं, न सम्पूर्ण शरीर में किये गये चन्दन का लेप मिटा सकता है और न मोतियों की माला ही इसमें सफल हो सकती है। इसे दूर करने की क्षमता यदि है तो केवल उसी दिव्य सुन्दरी में अथवा तदाश्रित प्रेमकथा में। विरहावस्था में राजा यहाँ तक स्मरण करते हैं कि उसके कंधे से मेरा कंधा दबता था जब मैं उसे रथ पर ला रहा था।

मेरे पूरे शरीर में यह कंधा ही भाग्यवान् है, शेष अंग तो पृथ्वी के भार हैं –

अयं तस्या रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः।

एकः कृती शरीरेऽस्मिन् शेषमङ्गं भुवो भरः।।

यह 'स्मृति' नामक व्यभिचारी भाव है जिसमें सुख या दुःख के भावों का अनुस्मरण होता है।[6] परवर्ती आचार्यों ने संस्कारजन्य ज्ञान को स्मृति कहा है।[7]

तृतीय अंक के अन्त में उर्वशी राजा को प्राप्त हो जाती है तथा नायक–नायिका के संयोग श्रृंगार की स्थितियाँ आसन्न हो जाती हैं। सन्ध्या के अनन्तर रात्रि होती है और राजा के साथ उर्वशी शयनकक्ष में जाती है। इस समागम के विषय में राजा अपनी कल्पना के लोक में जाकर कामना करते हैं कि जिस प्रकार तुम्हारे विरह में मेरी रातें सौगुनी लम्बी प्रतीत होती थीं वही अब तुम्हारे समागम के बाद भी वस्तुतः सौगुनी लम्बी हो जायें तो क्या कहना? मैं सफलमनोरथ हो जाऊँगा–

अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं शतगुणितेव गता मम त्रियामा।

यदि तु तव समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम्।।[8]

करुण –विप्रलम्भ- विप्रलम्भ श्रृंगार का एक भेद करुण–विप्रलम्भ माना गया है। यह कुछ विवादास्पद भेद है। सामान्यतः नायक तथा नायिका का किसी कारणवश परस्पर मिलन न होना या मिलन की आशा न रहना करुण–विप्रलम्भ है। इस स्थिति में, मिलन की आशा के अभाव में भी, दोनों के मन में रति–भाव विद्यमान रहता है। किन्तु दोनों में से कोई एक दिवंगत हो जाय तो वह शुद्ध 'करुणरस' हो जाता है। साहित्यशास्त्रियों ने करुण –विप्रलम्भ और करुणरस का अन्तर बताते हुए कहा है कि नायक–नायिका में एक की मृत्यु से दूसरा रति–भाव का स्मरण करते हुए विलाप करे तो वह करुण–विप्रलम्भ है, किन्तु 'विप्रलम्भ' तभी माना जायेगा जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से पुनः मिलने की आशा बनी रहे। यदि प्रियामिलन की आशा सर्वथा नष्ट हो जाय तो वहाँ स्थायी–भाव शोक होने के कारण करुणरस हो जायेगा। रघुवंश में अजविलाप करुणरस है जबकि कादम्बरी में पुण्डरीक के मर

जाने पर महाश्वेता को करुणरस की अनुभूति तो हुई किन्तु आकाशवाणी सुनने पर प्रियमिलन की आशा अंकुरित हो जाती है तो यह करुण-विप्रलम्भ हो जाता है।

उस दशा में भी, जहाँ प्रिय से मिलने की आशा नष्ट हो गयी हो किन्तु प्रिय जीवित है एवं प्रिय से मिलन की भौतिक संभावना सर्वथा विलुप्त नहीं हुई है तो करुण-विप्रलम्भ ही माना जायेगा। इसका लोकप्रिय उदाहरण कृष्ण के विरह में गोपियों की वियोगानुभूति है। करुण-विप्रलम्भ में वियोग की पराकाष्ठा होती है। इसका सम्बन्ध जीवन के साथ होता है। जीवन के अवसान से ही इसकी समाप्ति होती है। लोकगीतों में 'विरहकाव्य' इसी रूप का विप्रलम्भ शृंगार है।

कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में करुण-विप्रलम्भ का ही उद्भावन किया है। यह कहा जा चुका है कि यह अंश इतना मार्मिक एवं लोकतत्त्व से सम्पुष्ट है कि इसका परिवर्धन प्रक्षेपों के रूप में हुआ। फिर भी करुण-विप्रलम्भ एवं लोकतत्त्व को समन्वित करने की कल्पना कालिदास ने प्राचीन काल में की थी, यह उनकी विशिष्टता है। उर्वशी लता-रूप में शाप के कारण परिणत हो गयी है। राजा उसके विरह में उन्मत्त हो गये हैं तथा प्राकृतिक पदार्थों को उर्वशी समझकर उसकी ओर दौड़ रहे हैं। यहाँ राजा को उर्वशी से मिलने की पूर्ण आशा है। इसलिये यहाँ विप्रलम्भ का ही रूप है। स्थिति यह है कि उस उद्यान में कोई भी मनुष्य नहीं है। उर्वशी यदि वहाँ पहुँची तो उन्हीं प्राकृतिक उपादानों में से ही किसी एक रूप में होगी। इसीलये राजा अपने उन्माद में भी प्रियमिलन के प्रति आश्वस्त हैं। किन्तु उर्वशी को अपने मौलिक रूप में लाना सहज नहीं है। एक प्रकार से वह दिवंगत हो चुकी है। इसलिये राजा अपने मार्मिक विलाप के द्वारा जगत् को द्रवित कर देते हैं। इस अंक में कालिदास ने उन्माद तथा भावना दोनों का अद्भुत समन्वय किया है। एक पद्य में राजा दयनीय स्थिति में कहते हैं -

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः

सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम्।

अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा

कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी।।

अर्थात् यह अभी बरसनेवाला मेघ है राक्षस नहीं है। इसमें खिंचा हुआ वह इन्द्रधनुष है, राक्षस का धनुष नहीं है। ये जो निरन्तर बरस रहे हैं वे बाण नहीं है अपितु वर्षा की बूंदें हैं। यह जो कसौटी पत्थर पर बनी हुई स्वर्ण-रेखा के समान आकर्षक लग रही है वह विद्युत् है न कि मेरी प्रिया उर्वशी। यहाँ अपह्नुति अलंकार से पुष्ट करुण-विप्रलम्भ शृंगार-रस है जो राजा की उन्माद-दशा से अनुप्राणित है। उन्माद एक संचारी-भाव है जो भय, सन्निपात, इष्टजन-वियोग, शोक, धन-नाश इत्यादि कारणों से उत्पन्न चित्त-भ्रान्ति के रूप में होता है। इसमें अनिमित्त हास, अकारण

रोदन, असम्बद्ध प्रलाप, क्रन्दन, शयन इत्यादि अनुभावों का साहचर्य होता है। अभिनय की दृष्टि से ये अनुभाव महत्त्वपूर्ण हैं। उन्माद वस्तुत: अविचारित आचरण का ही अन्य नाम है। जगन्नाथ कहते हैं कि उन्माद की स्थिति में अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में अवभास होता है।

अद्‌भुत-रस से समापन- विश्वनाथ ने नाटक के समापन में अद्‌भुत–रस को वांछनीय माना है। नाटक में जो घटनाएँ विच्छिन्न रहती हैं वे अद्‌भुत रूप से अन्तिम समय में सिमट कर कथानक को सुखान्त बनाती हैं। इससे कुछ पात्रों को, विशेष रूप से नायक को विस्मय होता है। यह विस्मय ही अद्‌भुत रस का आधार होता है। अप्रत्याशित घटनाक्रम या सुखजनक आश्चर्य की प्राप्ति नाटक के अन्त में हो तो इसका स्थिर प्रभाव पड़ता है। दिव्यजनों के दर्शन, अभीष्ट की प्राप्ति, अनिष्ट का परिहार आदि कारणों से अद्‌भुत रस की उद्भावना होती है।[9]

विक्रमोर्वशीय के पंचम अंक में जो घटनाक्रम उपस्थापित किया गया है वह वस्तुत: अद्‌भुत–रस के अनुकूल है। उसमें सबसे बड़ी बात यह होती है कि राजा पुरूरवा को अप्रत्याशित रूप से यह ज्ञात होता है कि उन्हें उर्वशी से एक पुत्र हो चुका है जिसका नाम 'आयु' है। इतना नहीं, वे यह जान कर और भी प्रसन्न होते हैं कि वह अब तक शस्त्र–शास्त्र दोनों की शिक्षा प्राप्त करके राज्य सँभालने के योग्य हो गया है। उर्वशी उनके कुतूहल का शमन करती है कि इन्द्र के दिये हुए अनुबन्ध के कारण उसने यह बात राजा से छिपाकर रखी थी क्योंकि जैसे ही राजा अपने पुत्र को देख लेते, उर्वशी को उसी क्षण उक्त अनुबन्ध के अनुसार इन्द्रलोक में वापस लौटना पड़ता और ऐसा करना उसे अभीष्ट नहीं था।

राजा के समक्ष पुन: धर्म–संकट आ जाता है क्योंकि एक ओर पुत्र की प्राप्ति होती है तो दूसरी ओर उर्वशी का इन्द्रलोक में जाना अनिवार्य है अर्थात् राजा को प्रियवियोग का सामना करना पड़ेगा। वे वानप्रस्थ आश्रम में जाने की तैयारी करते हैं और राजकुमार आयु पर राज्यभार सौंपना चाहते हैं। इसी बीच अद्‌भुत–रस के द्वितीय चरण में देवर्षि नारद का आगमन होता है जो इन्द्र का संदेश लाये हुए हैं। तद्नुसार उर्वशी को स्थायी रूप से राजा के साथ रहने की अनुमति मिल जाती है। इस प्रकार दिव्यजन के दर्शन से मानवीय अभीष्ट की प्राप्ति के रूप में यहाँ अद्‌भुत–रस पुन: उद्भावित होता है।

हास्यरस- नाट्यशास्त्री भरत ने हास्य–रस को श्रृंगार का ही विकृति–रस कहा है तथा इसे सभी रसों से अधिक सुखात्मक माना है। हास्य–रस का लेशमात्र भी चित्त के तनावों को दूर कर देता है। अभिनवगुप्त ने सभी रसों के आभास से हास्य की सिद्धि मानी है। यह हास्य–रस के प्रति नयी दृष्टि का मत है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि अनौचित्य और आभास की आधारभूमि पर हास्य अधिष्ठित है। इस प्रसंग में उन्होंने उदाहरण दिया है कि जो जिसका बन्धु नहीं है (अपितु शत्रु है) उसके प्रति शोक प्रकट करें तो यह हास्य–रस ही है।[10] आधुनिक भारतीय राजनीति में

जब विरोधी नेता की मृत्यु पर उसके प्रतिपक्षी नेता को शोक प्रकट करते हुए देखा जाता है तो वह इसी प्रकार के हास्य-रस का आलम्बन बनता है।

विक्रमोर्वशीय में राजा का कामसहायक विदूषक हास्य-रस का पात्र है। वह अपने वचनों तथा चेष्टाओं से हास्य उत्पन्न करता है। द्वितीय अंक के प्रवेशक में वह विचित्र संकट में है कि राजा के रहस्य (उर्वशी से प्रेम) को वह किसी से प्रकट किये बिना व्याकुल हो रहा है। किन्तु यह भी जानता है कि उस गुप्त रहस्य को प्रकट करना अच्छा नहीं है। इसलिये वह एकांत स्थान में चला जाता है। विदूषक अपनी भोजनप्रियता के कारण भी हास्य का पात्र है। वह किसी भी बात में भोजन का बिम्ब प्रस्तुत कर देता है। राजा जब उर्वशी-विषयक कामना के आलोक में अपने वियोग-दु:ख को दूर करना चाहते हैं तो विदूषक रसोईघर में चलने का सुझाव देता है, जहाँ पञ्चविध पकवानों को देखकर दु:ख दूर हो जायेगा। इसी प्रकार देवी के द्वारा जब राजा के प्रेम का रहस्योद्घाटन होता है तथा राजा संकट में पड़ जाते हैं तो विदूषक तुरत कहता है कि इनके पित्त के शमन के लिये भोजन की व्यवस्था कीजिए क्योंकि भोजन से पिशाच भी सन्तुष्ट हो जाता है। फिर भी अन्य रूपकों के विदूषक के समान इस नाटक का विदूषक हास्य-सृष्टि में दुर्बलतर ही सिद्ध होता है।

कुल मिलाकर उपर्युक्त तीन रस ही विक्रमोर्वशीय में उद्भावित हुए है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. विश्वनाथ - साहित्यदर्पण 6.10.
2. शारदातनय - भावप्रकाशन (गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज, संख्या-45, बड़ौदा 1930 ई) चतुर्थ अधिकार।
3. दशरूपक 4.4.5
4. विक्रमोर्वशीय 1.13
5. विक्रमोर्वशीय 2.10
6. नाट्यशास्त्र 7.54 के पूर्व - स्मृतिर्नाम सुखदु:खकृतानां भावानामनुसरणम्।
7. रसगंगाधर, पृ 95 (चौखम्बा सं) संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृति:।
8. विक्रमोर्वशीय 3.22
9. डॉ॰ राजवंश सहाय हीरा - भारतीय साहित्यशास्त्र कोश (पटना, 1973), पृ 360.
10. अभिनवगुप्त - अभिनवभारती (नाट्यशास्त्रटीका), भाग-1, पृ॰ 296 - एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्।